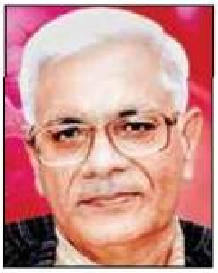

उच्च शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता सुधारने के नाम पर केवल पश्चिम की नकल को हानिकारक मान रहे हैं **प्रो. गिरीश्वर मिश्र**

आजकल देश में उच्च शिक्षा की कमियों को दूर कर उसमें गुणवत्ता लाने की चर्चा बड़े जोरों पर है। इसके लिए अनेक स्तरों पर तरह-तरह की कवायद की जा रही है, परंतु इस प्रयास के लिए अपनाए गए संदर्भ और मानक हमारे अपने नहीं हैं। गुणवत्ता के सरोकार के बारे में हमारा ध्यान उन अंतरराष्ट्रीय मानदंडों की ओर ही जा रहा है जो अन्यत्र देश काल के संदर्भ में ठीक हो सकते हैं, लेकिन यह जरूरी नहीं कि वे हर जगह ठीक हों। बावजूद इसके लगभग उन्हीं को पृष्ठभूमि में रख कर गुणवत्ता की पैमाइश की जा रही है और उनके मानकों पर संतुष्ट होने पर शिक्षण संस्थाओं को ए/बी/सी/डी ग्रेड दी जा रही है। प्राध्यापकों की पदोन्नति में एपीआइ की गणना हो रही है और इसके चलते आजकल शिक्षा संस्थानों में हम शोध, संगोष्ठी और प्रकाशन की तत्वहीन मारामारी का अद्भुत नजारा देखने को बाध्य हो रहे हैं। गुणहीन शोध पत्रिकाओं की भीड़ लग रही है और शोध में नकल और चोरी की घटनाएं दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। शिक्षा के परिसर में आज पढ़ने आने वाला युवा 'विद्यार्थी' नहीं, बल्कि अच्छे 'परीक्षार्थी' बनने के लिए ही यत्नशील रहता है। सफलता यानी अच्छे अंक पाने पर उसका जोर निरंतर बढ़ता जा रहा है। ट्यूशन या कोचिंग की जरूरत और उसकी बढ़ती व्यावसायिक गिरफ्त को देखने से यही लगता है कि प्रचलित शिक्षा अधूरी, दोषपूर्ण और अपर्याप्त है। इसलिए सही अर्थों में व्यक्तित्व और कुशलता की वृद्धि की दृष्टि से अव्यावहारिक है।

हम देख रहे हैं कि उच्च शिक्षा किस तरह संचालित हो रही है और किस मुकाम पर पहुंच रही है। यह किसी भी तरह संतोषजनक नहीं है। हम अपने विश्वविद्यालयों की तुलना हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड और एमआइटी जैसी विदेशी संस्थाओं से करना चाह रहे हैं। उनकी ही तर्ज पर जांच-परख करने पर हमारे श्रेष्ठ विश्वविद्यालय या उच्च शिक्षा के अन्य संस्थान फिसड्डी ही साबित होते हैं और हम अंतरराष्ट्रीय रैंकिंग की सूची में कहीं ठहरते ही नहीं हैं। सूची में ऊपर आने के लिए जो निष्कर्ष तय किए गए हैं वे कुछ सार्वभौम पैमानों को हमारे सामने रखते हैं। मसलन-छात्र संख्या, कक्षा में छात्रों और अध्यापक के बीच का अनुपात, संस्था की प्रतिष्ठा, विदेशों के साथ संबंध, अंतरराष्ट्रीय प्रकाशनों की संख्या इत्यादि। यदि गौर से देखें तो इनमें कई निष्कर्ष हमारे भारतीय समाज के लिए असामान्य हैं और प्रासंगिकता की दृष्टि से एक हद तक संदिग्ध भी, लेकिन हम उन्हें अपनाने के लिए अंधी और अंतहीन दौड़ में शामिल हो रहे हैं। आज विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संगठन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दिशा-निर्देश देते हैं, जिनके अनुसार नीति निर्धारण किया जाता है। कौन से विषय आगे बढ़ेंगे और उन्हें किन मुद्दों पर शोध के लिए क्या सहायता मिलेगी? यह सब उन्हीं नीतियों पर निर्भर करता है न कि स्थानीय दशाओं या क्षमताओं के ऊपर। स्वायत्तता कितनी दी जाए? यह हमारा अपना निर्णय नहीं होता है। संस्थाओं को स्वायत्तता प्राप्त नहीं है। उनके ऊपर तमाम बंधन दर बंधन की ऐसी झड़ी लगी है कि विश्वविद्यालय हर बात के लिए मुंह देखता है और सरकारी आदेश की बाट जोहता है। सरकार का तंत्र हावी है और नौकरशाही का प्रभाव शैक्षिक प्रशासन को दूषित और बाधित कर रहा है। ऐसे में हर चीज अपनी जगह स्थिर है, गतिहीन है।

शिक्षा संस्थानों की भूमिका

◆ **हमें याद रखना चाहिए कि शैक्षिक संस्थान वस्तु नहीं पैदा करते। वे मनुष्य रचते हैं और ज्ञान के द्वारा उसका परिष्कार और परिमार्जन करते हैं**

भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों, समाज विज्ञानों और मानविकी के विभिन्न विषयों को एक ही तराजू से नहीं तौला जा सकता। इन सबमें ज्ञान की प्रकृति और उनके निर्माण और प्रयोग में सांस्कृतिक संदर्भ की प्रासंगिकता अलग-अलग है। अब उसमें कौशल विकास भी जुड़ रहा है, ज्ञान का उत्पादन भी। और ज्ञान का उपयोग भी। उपनिवेशवादी दौर के बाद साम्राज्यवादी मानसिक चिंतन से आजादी आवश्यक है। आज अनुकरण की इच्छा बलवती है और हम बिना सोचे समझे जो कुछ भी कहीं भिन्न दिखता है, अपनाने दौड़ते हैं। 'उनके पास है तो हमारे पास क्यों न हो' इस तर्क का अनुसरण करते हुए अपने को पश्चिमी विश्वविद्यालयों का क्लोन बनाते जा रहे हैं। प्रतिस्पर्धा जीवन की धुरी बनाती जा रही है। इस प्रक्रिया में पूंजीवाद ही एक मात्र मार्ग दर्शक है। विश्वविद्यालय भी औद्योगिक संस्थाओं की तर्ज पर चलाए जाने लगे हैं। नौकरशाही उनके पूरे परिवेश पर हावी है। शिक्षा संस्थाओं का संचालन औद्योगिक संगठन या घरानों की तर्ज पर हो रहा है। इस मॉडल का शिक्षा की गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। भारतीय संविधान में न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की चर्चा है। इसमें जिस मनुष्य की संकल्पना की गई है वह उच्च शिक्षा केंद्रों से एक भिन्न तरह के मानस के निर्माण की अपेक्षा करता है, लेकिन आज जिस तरह क्वालिटी को क्वांटिटी में बदलने की कोशिश हो रही उससे कई खतरे पैदा हो रहे हैं और गुणवत्ता को नुकसान पहुंच रहा है। यदि वैश्विक ही महत्वपूर्ण है तो स्थानीय का क्या होगा?

शिक्षा एकरूपी नहीं होनी चाहिए। सिखाने वाला संगठन ऐसा हो जो स्वतंत्रता/स्वायत्तता पर बल दे। उसे बदलाव के लिए तत्परता होना चाहिए। तभी रचनाशीलता आ सकेगी। उसे 'रिजिड' नहीं होना चाहिए। शैक्षिक संस्थान वस्तु नहीं पैदा करते वे मनुष्य रचते हैं और ज्ञान के द्वारा उसका परिष्कार और परिमार्जन करते हैं। हमें विचार करना चाहिए कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य क्या है? हम किस तरह के मनुष्य की परिकल्पना कर रहे हैं? हर शिक्षा संस्था अपनी शक्ति और विशिष्टता के साथ उन क्षेत्रों को रेखांकित करे जिनमें प्रामाणिक रूप से उसके द्वारा योगदान संभव है। उसका उद्यम यदि उस क्षेत्र विशेष में केंद्रित हो तो बात बन सकती है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि गुणात्मक शिक्षा की यह स्वाभाविक अपेक्षा होती है कि उसमें छात्र और अध्यापक, दोनों ही ज्ञान की प्रक्रिया के साथ गहराई से जुड़ें। गुणवत्ता की तलाश के लिए दरकार है आंतरिक पुनराविष्कार की।

(लेखक महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति हैं)

response@jagran.com